महाभारत में सनत्सुजातीयम्

(महाभारत – उद्योगपर्वणि सनत्सुजात पर्व – (अध्याय 41 – 46)1)

डॉ. सुबोध चन्द्र शर्मा, वरिष्ठ संरचना-अभियांत्रिकी एवं सूचना-प्रौद्योगिकी-परामर्शक, जयपुर

नमः पुंसे पुराणाय पूर्णानन्दाय विष्णवे ।
निरस्तनिखिलध्वान्ततेजसे विश्वहेतवे ।।

सब प्रकार के अन्धकार को निरस्त करने वाले, तेजःस्वरूप, पुराणपुरुष, पूर्णानन्द, जगत्कारण श्रीविष्णु को नमस्कार है।

उपक्रमणिका

अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मभाव को भूलकर जीवात्मा देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मभाव कर के अविद्यायुक्त हो गया है । इस प्रकार वह सारे पुरुषार्थों से च्युत होकर अनेक योनियों में भटकता है । यदि कभी वेदान्त-श्रवण या गुरुकृपा से कुछ रागादि की निवृत्ति हो जाय तो वह वेदविहित शम-दमादि साधनों से सम्पन्न होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' (**अहं ब्रह्मास्मि**[२]) इस प्रकार वेदान्त का ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

धृतराष्ट्र शोक एवं आशंकाओं से ग्रस्त है। उन्होंने सुन रखा है कि ''आत्मवेत्ता शोक से तर जाता है'' (**तरति शोकमात्मवित्**[३])। क्रमशः इन्हीं विषयों का उपदेश महाराज धृतराष्ट्र के प्रति करने के लिये महात्मा विदुर की प्रार्थना पर भगवान् सनत्सुजात प्रकट होते हैं। महाभारत का यही अंश **सनत्सुजातीय** नाम से जाना जाता है । इसी नाम के उपपर्व में यह कथा उद्योग पर्व के अन्तर्गत है ।

---

१. गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा श्रीसनत्सुजातीय के शांकर भाष्य का एक विशेष अंक (मासिक महाभारत, वर्ष ४ अंक १२) दिसम्बर १९५९ में प्रकाशित किया गया था । यह अंक गीता प्रेस द्वारा ही १९५५ से चार वर्षों में मासिक शृंखलाबद्ध प्रकाशित प्रचलित महाभारत (जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई) की शृंखला का अंश है । श्रीसनत्सुजातीय पर्व का एक और पाठ उद्योग पर्व के अन्तर्गत उक्त महाभारत मासिक पत्रिका के वर्ष १ अंक ११ में अध्याय ४१ से ४६ तक उपलब्ध है । यही पाठ बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ । इन दोनों पाठों में पर्याप्त एकरूपता होते हुए भी बहुत भिन्नता है जिसके कारण इस लेख के लिए केवल दिसम्बर १९५९ में प्रकाशित शांकर भाष्य का ही अनुकरण किया गया है । इस भाष्य में केवल चार अध्याय और कुल १४९ श्लोक हैं, जबकि पूर्वोक्त महाभारत में इसी प्रसंग में छः अध्याय और २०४ श्लोक हैं ।

२ बृहदारण्यक-१.४.१०

३ छान्दोग्य-७.४.१ में उक्त उद्गार भगवान सनत्सुजात के प्रति देवर्षि नारद के हैं । महाभारत-उद्योग पर्व-४१.२ में यही बात धृतराष्ट्र के लिए विदुर द्वारा उद्धृत है ।

भगवान् आदि शंकराचार्य ने इस विषय पर चार अध्यायों का भाष्य किया है । निम्नांकित लेख उसी भाष्य के आधार पर है । परम पूज्य स्वामी सनातन देव जी ने इस भाष्य का हिन्दी अनुवाद किया है, जो गीता प्रेस से दिसम्बर १९५९ में प्रकाशित हुआ । श्री एस.एन. शास्त्री द्वारा किया गया इसका अंग्रेज़ी अनुवाद[४] भी इन्टरनेट पर उपलब्ध है।

धृतराष्ट्र कुल १३ प्रश्न पूछते हैं । प्रश्नों के विषय विशद हैं- मृत्यु-अमृतत्व, ब्रह्मवेत्ता और कर्म, पुराण-पुरुष और जगद्रचना, पाप और धर्म, मौन और उसका स्वरूप, वेदज्ञ और पाप, धर्म और वेदरक्षा, ब्रह्मवेत्ता का भाव, तप और उसके दोष, उत्कृष्ट ब्राह्मण की पहचान, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मचर्य, ब्रह्म का स्वरूप । उत्तर में सनत्सुजात उत्कृष्टतम वेदान्त सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए गूढ़ वेदवाक्यों का कोष खोल देते हैं । अपने विस्तृत भाष्य में आचार्य शंकर ने क्लिष्ट वेदान्त सिद्धान्तों का और भी विशद विवेचन किया है । अपने प्रमाणों के रूप में उन्होंने वेदवाक्यों के प्रभूत उद्धरण दिये हैं । निम्न लेख इस भाष्य को ही संक्षेप में प्रस्तुत करने का एक प्रयास है ।

महाराज धृतराष्ट्र का प्रथम प्रश्न– हे सनत्सुजात ! आपका वचन कहा जाता है कि मृत्यु है ही नहीं । दूसरी ओर (छान्दोग्य उपनिषद् में ही) यह कथा भी है कि देवता और असुरों ने लम्बे समय तक अमृतत्व की प्राप्ति के लिये गुरुगृह में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन किया। अतः मृत्यु की सत्ता और असत्ता- इन दोनों में कौनसा सत्य है?

अप्रमाद ही अमरत्व है

आचार्य शंकर कहते हैं कि अविद्या के वशीभूत कुछ लोग (मीमांसक) मृत्यु की सत्ता को मानने के कारण कहते हैं कि वेदोक्त कर्म द्वारा अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है । विषयासक्ति से ग्रस्त कुछ (उपासक) निर्विषय मोक्ष को स्वीकार न करते हुए (उपासना) कर्म द्वारा ही देवादिभाव की प्राप्ति का वर्णन करते हैं । कुछ लोग ज्ञान और कर्म के समुच्चय द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं । किन्तु जो एकमात्र अद्वितीय आत्मा को ही देखते हैं उनके लिये मृत्यु है ही नहीं।

उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि।।१.०४।।

सनत्सुजात उत्तर देते हैं - हे क्षत्रिय ! मृत्यु का अस्तित्व और अभाव - ये दोनों ही आदिसर्ग से ही प्रवृत्त हैं । मृत्यु क्या है? यह जो अनात्मा में आत्माभिमान है - अर्थात् मोह या मिथ्याज्ञान, उसे ही

४ www.advaitin.net/snsastri/Sanatsujatiyam.pdf

विद्वान् मृत्यु कहते हैं । मैं तो प्रमाद को ही मृत्यु कहता हूँ । **प्रमाद अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव से च्युत होने को कहते हैं ।** अप्रमाद – अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप में स्थित होने को मैं अमृतत्व कहता हूँ, क्योंकि इस प्रकार स्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है ।

कोई मृत्यु के देवता यम को ही मृत्यु मानते हैं, जैसे सावित्री उपाख्यान में प्रकट हुए थे तथा सत्यवान् के शरीर से अंगुष्ठमान पुरुष को खींच कर ले गये थे, जो पितृलोक में शासन करते हैं और शिव–(अर्थात् पुण्य)कर्माओं – के लिये शिव – अर्थात् सुखप्रद – तथा अशिव –(अर्थात् पाप) कर्माओं – के लिये अशिव – अर्थात् दुःखप्रद होते हैं। ये यम आत्मावास हैं –जो आत्मा या बुद्धि में रहते हैं, अमृत – अर्थात् अमरणधर्मा, और ब्रह्मचर्य – अर्थात् अपने आत्मभूत ब्रह्म में रमण करने वाले या ब्रह्मनिष्ठ हैं ।

आचार्य शंकर स्वीकार करते हैं कि यम के उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त होते हैं[५], परन्तु वह साक्षात् मृत्यु नहीं है । प्रमाद–संज्ञक अज्ञान ही विनाश का साक्षात् कारण है । वही वास्तविक मृत्यु है । अनेक श्रुति–वाक्यों[६,७] और शास्त्रोल्लेखों द्वारा आचार्य अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं । अमृतत्व कर्मसाध्य नहीं है, क्योंकि यह चारों प्रकार के कर्मों (काम्य, नित्य, नैमित्तिक और निषिद्ध) से विलक्षण है । श्रुति कहती है कि केवल ज्ञान के द्वारा ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है[८]।

कामादि द्वारा प्रमाद का बन्धहेतुत्व

प्रमाद ही मृत्यु है – यहाँ तक ऐसा कहकर मृत्यु का स्वरूप बताया। अब कार्यरूप से उसी की स्थिति बतलाते हैं –

आस्यादेष निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च मृत्युः।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति किंचित्।।१.०७।।

आस्य घोर अभिमानात्मक अहंकार को कहा गया है। जो प्रमादसंज्ञक अज्ञानरूप मृत्यु है, वह पहले आस्यरूप में परिणत होता है । अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने से ही जीव काम के वशीभूत होता है । फिर वही काम, क्रोध और मोह रूप हो मृत्यु का रूप ले लेता है । आगे यही अहंकार, मैं

---

५ कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।।–कठ.–१.२.२१।।

६ ..... मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम् गमय .... बृहदारण्यक–१.३.२८

७ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।–कठ.–१.३.१५।।

८ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय–श्वेताश्वतर–३.८

ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ, इस प्रकार विमार्गों में प्रवृत्त हो जाता है । फिर जीव अपने आत्मयोग को तनिक भी प्राप्त नहीं कर पाता ।

इस अहंकार-जनित मोह के वश में आकर जीव प्रमादसंज्ञक मृत्यु के द्वारा अन्य लोकों में ले जाये जाने के उपरान्त फिर इस लोक में देह प्राप्त करता है । वहाँ देव, इन्द्रियगण, उसे परिप्लवित करते हैं-भटकाते हैं । इस प्रकार वह मृत्यु से मृत्यु तक ही भटकता रहता है। अर्थात् जब तक वह अपने आत्मस्वरूप को नहीं जान लेता तब तक जन्म-मरण रूप संसार में ही पड़ा रहता है ।

कर्मोदये कर्मफलानुरागाः तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात्समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही ।। १.०९ ।।

कर्मों का उदय होने पर तो कर्मफल से अनुराग हो जाता है । उसका अनुवर्तन करने से जीव और उलझता है - मृत्यु को पार नहीं करता । इसका कारण है कि वह सदर्थयोग को नहीं जानता। सद्वस्तु के साथ एकत्व का ज्ञान होने को **सदर्थयोग** कहते हैं । आत्मा के सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान न होने से जीव विषय-रसबुद्धि में प्रवृत्त हो जाता है । इस प्रवृत्ति के प्रभाव से यह विवेकहीन देही भोग के सुख की खोज में सब ओर भटकता रहता है ।

रागाभिभूत जीव का इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होना ही **महामोह** है। इस महामोह के फलस्वरूप मिथ्या पदार्थों के प्रति राग हो जाना निश्चित ही है । जिसकी आत्मा इस मिथ्यार्थयोग से अभिहत हो गई वह सब ओर विषयों का ही स्मरण करता है-परमात्मा का नहीं ।

विवेकी मृत्यु की मृत्यु है

अभिध्या विषयचिन्तन को कहते हैं । पहले जीव को विषयचिन्ता नष्ट करती है, अर्थात् अपने आत्मस्वरूप से च्युत कर देती है । फिर इस अभिध्याग्रस्त को काम तथा क्रोध पकड़ कर मृत्यु के पंजे में डाल देते हैं।[९] परन्तु जो बुद्धिमान धैर्यपूर्वक विषयों को जीत लेते हैं वे अपने स्वरूप को जानकर मृत्यु के पार हो जाते हैं।[१०]

योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्यात् अनाचारेणाप्रतिबुध्यमानः।
स वै मृत्युं मृत्युरिवात्ति भूत्वा ह्येवं विद्वान् योऽभिहन्तीह कामान् ।। १.१२ ।।

---

९ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।। कठ.२.१.२

१० अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।। कठ-१.३.१५

जो विद्वान अभिध्याजनित उत्पतिष्णु – उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले – विषयों को अनित्य, अपवित्र और दुःख मिश्रित जानकर त्याग देता है और इस प्रकार कामनाओं को जीत लेता है, वह विवेकी मृत्यु की भी मृत्यु बनकर मृत्यु का ही भक्षण कर जाता है।

विषयों का चिन्तन करने वाला कामानुसारी पुरुष, कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है। विषयरूप विष से अंधा हुआ जो मनुष्य अपने अन्तरात्मभूत अध्यात्म को नहीं मानता तो भले ही वह छहों अंगों सहित वेदों को जानता हो, वह तृणनिर्मित व्याघ्र के समान ही है।

अपने ज्ञान द्वारा अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मभाव में स्थित पुरुष फिर मृत्यु से नहीं डरता। ज्ञानी की प्रमाद-संज्ञक अज्ञानरूप मृत्यु नष्ट हो जाती है। इसलिए कहा जाता है कि उसने मृत्यु को मार दिया है।

ज्ञानी के कर्मत्याग में धृतराष्ट्र की शंका

प्रश्न २ धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान् **द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।**
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा **एतद्विद्वान्नैति कथं नु कर्म** ॥१.१७॥

श्रुति तो कहती है कि द्विजों के लिए ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों द्वारा पुण्यतम सनातन लोकों की प्राप्ति होती है। वे ही परमार्थ कहे गये हैं। इस परमार्थत्व को जानकर विद्वान कर्म क्यों न करे?

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र **तथार्थजातं च वदन्ति वेदाः।**
स नेह आयाति परं परात्मा **प्रयाति मार्गेण निहन्त्यमार्गान्** ॥१.१८॥

इस प्रकार तो विषयविषान्ध अविद्वान ही ब्रह्मलोकादि के अर्थ से वेदोक्त कर्म करता है।[११] परन्तु जो विद्वान परं परात्मा को आत्मस्वरूप से जानता है वह कर्मी पुरुष के समान इस लोक में फिर जन्म नहीं लेता, बल्कि धर्माधर्म एवं उपासना के ज्ञानमार्ग द्वारा अमार्गों को नष्ट कर देता है।

ईश्वर के जगद्रचना में प्रवृत्त होने का प्रयोजन

प्रश्न ३ धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं **स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण।**
किं वास्य कार्यमथवासुखं च **तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत्** ॥१.१९॥

११ अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः॥
बृहदारण्यक-४.४.११

पंचभूत, पंचकोशादि वाले इस संसार को बनाकर जो इसमें ही अनुप्रविष्ट हो जाता है और जो स्वयं अजन्मा होते हुए भी इस जन्म-मरणशील संसार का रूप ले लेता है, वह ऐसा किसके कहने से करता है? या फिर ऐसा करने से उसका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है या इसमें उसे क्या सुख मिलता है, अथवा यदि वह ऐसा न करे तो उसका क्या अनर्थ होता है? हे विद्वन्, यह आप मुझे ठीक-ठीक बतलाइये।

जीवसृष्टि अनादि और मायिक है

सनत्सुजात का उत्तर– यदि ब्रह्म में भेद (नियोज्य-नियोजक) माना जाय तो महान् दोष हो जायेगा। ऐसा हुआ तो अद्वैत सिद्धान्त, जो वेद का मूल है, वही बाधित हो जायेगा। इसके सिवा ब्रह्म में अनेकत्व मानने से अनित्यत्व भी आ जायेगा। वास्तव में जो अनेकत्व कहीं प्रतीत होता है वह अनादि माया के संयोग से होता है।

(यहाँ भगवान् शंकराचार्य उक्त वचन को बल देने के लिये वेद-उपनिषद्, महाभारत और पुराणों से अनेक प्रमाण देकर ब्रह्म का अद्वैत स्थापित करते हैं।)

परन्तु प्रश्न उठता है कि जीव-ईश्वर के व्यवहार का भेद किस प्रकार सिद्ध होगा। इस पर समझाते हैं कि 'अनादि' अविद्या-संज्ञक माया का नाम है। जो नित्य षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् हैं, उनकी शक्ति माया ही यह सब करती है-ऐसा मैं (सनत्सुजात) मानता हूँ और वेदों में भी इसके प्रमाण हैं[१२]।

धर्म और अधर्म में कौन किसका घातक है?

मृत्यु-विषयक शंकाओं के निराकरण के उपरान्त धृतराष्ट्र कर्म के स्वभाव के विषय में प्रश्न करते हैं।

प्रश्न ४ – इस लोक में कोई तो अग्निहोत्रादि धर्म का आचरण करते हैं और कोई पापाचरण करते हैं। इनमें से क्या धर्म पाप से पराजित हो जाता है या धर्म ही पाप को पराजित कर देता है, या ऐसा तो नहीं है कि तुल्य बल वाले होने से ये एक-दूसरे को मिटा दें ?

अज्ञानी को दोनों का फल भोगना होता है, ज्ञानाग्नि से दोनों नष्ट हो जाते हैं

उत्तर में सनत्सुजात कहते हैं कि ज्ञानी धर्माधर्म कर्म में स्थित रहते हुए भी ज्ञान द्वारा ही सब कर्मों का नाश कर देता है। इसके विपरीत अज्ञानी पुण्य होने पर पुण्य का तथा पाप होने पर पाप का फल

१२ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते-बृहदारण्यक-२.५.१९

भोगता है । इसका प्रमाण अनेक श्रुति-वाक्य हैं । ज्ञानी से वस्तुतः पाप-पुण्य होते ही नहीं । उसमें न कामना होती है, न अहंकार। उसके शरीर से प्रारब्ध-वश चेष्टामात्र होती है ।

ज्ञानी का आचरण

उस विरक्त ज्ञानी के आचरण का वेदवेत्ता वर्णन करते हैं । उसे उसके आन्तरिक (घर के लोग) या बाहरी लोग बहुत अधिक नहीं मानते ।

उसे ऐसे स्थान पर रहना चाहिये जहाँ अन्न-भोजन प्रचुरता से सुलभ हो । अन्न-जल आदि की कमी को जीवन यात्रा में कष्टप्रद न होने दे ।

वहाँ भी उसका ऐसे लोगों के पास रहना अच्छा है जो उसका किसी प्रकार से विशेष सम्मानादि न करें । भगवान् मनु का वचन है कि ब्राह्मण को सम्मान से विष की भाँति बचना चाहिये (मनु स्मृति २.१६२)। भगवान् पराशर भी कहते हैं कि सम्मान योगश्री की अत्यन्त हानि करता है (विष्णु पुराण २.१३.४२) ।

ब्रह्मवेत्ता अपनी चर्या को अज्ञात ही रखे अर्थात् पुत्र-मित्र-कलत्र के बीच रहता हुआ भी देहादि-सहित किसी को भी अपना न माने। अथवा-जो अज्ञात अर्थात् नेत्रादि का अविषय, वाणी का अगोचर, उदय-अस्त से रहित, केवल ज्ञानस्वरूप से स्थित, क्षुधा-पिपासा से असम्पृष्ट, पूर्णानन्दस्वरूप, सर्वान्तर और सबका अन्तरात्मस्वरूप है - उस ब्रह्म में ही मुझे चर्या, समाधिरूप निष्ठा, करनी चाहिये - यह माने ।

अनात्मज्ञ की निन्दा

योऽन्यथा सन्तमात्मानम्- अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा।।१.३३।।

जो आत्मा अलिंग, अचल, शुद्ध और निर्द्वन्द्व है, उसे अन्य प्रकार से - अर्थात् - स्थूल-सूक्ष्म देहधारी, कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, स्थूल-कृश शरीरवान्, अमुक का पुत्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि प्रकार से जो जानता है, उस आत्मचोर, आत्मापहारी ने कौनसा पाप नहीं किया ?

अगूढचारी की निन्दा

जिस प्रकार बालक अपने वमन किये हुए को खा जाते हैं, उसी प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता अपना

माहात्म्य प्रकट कर देते हैं, प्रच्छन्न रूप से नहीं रहते, वे अपने पुरुषार्थ का उपभोग करने के कारण, मानों अपने वमन का ही भक्षण करते हैं ।

मानापमान में ज्ञानी की स्थिति

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत नावमानेऽनुसंज्वरेत् ।।१.३८।।
लोकस्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ।।१.३९।।
अधर्मविदुषो मूढा लोकशास्त्रविवर्जिताः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति इति मन्येदमानितः।।१.४०।।

जिस ब्रह्मवेत्ता का बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के ही कोई विज्ञजन सम्मान करे तो वह सम्मानित ब्रह्मवेत्ता 'मैं सम्मानित हुआ हूँ' ऐसा न माने। साथ ही यदि कोई अज्ञ उसका अपमान करे तो उससे वह अनुतप्त न हो ।

सम्मानित होने पर विद्वान् ऐसा माने कि निमेषोन्मेष की तरह श्रेष्ठ विद्वानों की स्वाभाविक प्रकृति है कि वे सम्मान करते हैं। लोक व शास्त्र से अनभिज्ञ धर्म के अज्ञानियों द्वारा अपमान होने पर भी अपमानित विद्वान् को यही मानना चाहिये कि यह उनका स्वभाव ही है कि वे मान्य का मान नहीं करेंगे ।

मान और मौन की भिन्नता

न वै मानश्च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं मानस्य विषयो ह्यसौ मौनस्य तद्विदुः ।।१.४१।।

मान और मौन सदा ही एक साथ नहीं रहते। जो यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है, यह प्रपंच तो मान का विषय है और वह परलोक जो 'तत्' नाम से जाना जाता है, मौन का विषय है ।

श्रीर्हि मानार्थसंवासात् सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ।।१.४२।।

हे क्षत्रिय! मान विषयक प्रपंच में स्वर्ग, पशु अन्नादि के साधनभूत कर्मों का अनुष्ठान करने वाले विषय-विषान्ध पुरुष को लक्ष्मी ही मिलती है, पर वह लक्ष्मी भी परिपन्थिनी, श्रेयोमार्ग की विरोधिनी ही

है । इस प्रकार की लक्ष्मी के चंगुल में फंस कर जो प्रज्ञाहीन (अविवेकी) विषयों में प्रवृत्त होता है उसे ब्राह्मी – ब्रह्मानन्दरूपा – लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है ।

ब्राह्मी लक्ष्मी के प्रवेश के द्वार

द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति सन्तो बहुप्रकाराणि दुराचराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः षण्मानमोहप्रतिबन्धकानि ।।१.४३।।

सन्तजन इस ब्रह्मलक्ष्मी के प्रवेश करने के अनेक प्रकार के दुश्चर– कठिनता से आचरण किये जाने वाले– द्वारों का वर्णन करते हैं। ये द्वार हैं – सत्य, आर्जव (सरलता), ह्री (लज्जा), दम (इन्द्रिय–दमन), शौच तथा विद्या (ब्रह्मविद्या)। ये छः गुण मान और मोह के प्रतिबन्धक हैं ।

प्रश्न ५– मौनविषयक प्रश्न

हे विद्वन्! मुझे इस मौन के विषय में बतलाइये। यह मौन कैसा है? किस प्रकार के पुरुष को यह मौन होता है ? क्या वाणी के मौन द्वारा विद्वान् मौन (ब्रह्म) को प्राप्त होता है? इस लोक में लोग किस प्रकार मौन का आचरण करते हैं ?

मौन का लक्षण

यतो न वेदा मनसा सहैनम्– अनुप्रविशन्ति ततः स मौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन्।। २.०२।।

हे राजन् ! क्योंकि मन के सहित सम्पूर्ण वेद इस परमात्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकते[१३], अतः इसी कारण वाणी का अगोचर वह परमात्मा ही मौन है । जिस संवेदनरूप अर्थ में वेद शब्द का प्रयोग होता है वह परमात्मा ही है और वह उसमें ही ज्योतिः स्वरूप से ही भासता है ।

१३ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह.....–तैत्तिरीय २.४/२.९

वेदाध्यायी को पाप का लेप होता है या नहीं

प्रश्न ६ धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंष्यधीते यः सामवेदं च यो द्विजः।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते न स लिप्यते ।। २.०३ ।।

जो द्विज पापाचरण करते हुए ऋक्, यजुः, साम आदि वेदों का अध्ययन करता है, वह उस वेदाध्ययन के द्वारा पवित्र होता है या नहीं ?

वेदाध्ययन पाप से बचाने में असमर्थ है

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि यजूंषि च विचक्षण।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ।। २.०४ ।।

हे विचक्षण ! जो पापकर्म करता हुआ ऋग्वेदादि का अध्ययन करता है, उस निषिद्धाचारी की वेद पापकर्म से रक्षा नहीं कर सकते। मैं तुमसे झूठ नहीं कहता ।

न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्– छन्दांस्येनं प्रजहन्त्यकाले ।। २.०५ ।।

नहीं, उसे वेद पाप से नहीं तारते। माया के रहते हुए, इस मायावी, धर्मध्वजी, पापाचारी, नास्तिक, मिथ्याचारी को वेद अन्तकाल में वैसे ही छोड़ जाते हैं जैसे पंख निकल आने पर पक्षी अपने नीड़ को छोड जाते हैं ।

वेदाध्ययन की उपयोगिता में धृतराष्ट्र की शंका

प्रश्न ७ धृतराष्ट्र उवाच

न चेद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ।। २.०६ ।।

हे विचक्षण ! यदि वेद वेदवेत्ता की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं तो इस विषय में जो सनातन काल से ब्राह्मणों का प्रलाप है वह क्यों है ?

उक्त शंका का निरसन

यदि वेद का तात्पर्य यही होता तो अवश्य यह प्रलाप हो सकता था, परंतु वेद का तात्पर्य तो मोक्ष कहा जाने वाला परमपुरुषार्थ है जो स्वर्गादि से भिन्न है । स्वर्गादि लोकों को तो वेद अविद्वान् और अबुध लोगों का ही इष्ट बताते हैं ।[१४] जो जीव 'यही मैं हूँ' ऐसा जान जाय तो किस इच्छा से वह शरीर के पीछे अपने को संतप्त करेगा[१५] । अन्य जो कर्म और उपासनाएँ हैं उनका उद्देश्य तो है मोक्ष के साधनभूत ज्ञान को तथा इसके लिये आवश्यक अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त करना[१६] ।

यह सब होते हुए भी, मोक्ष और उसके साधनों का प्रतिपादक होने से वेद संसाररूप अनर्थ की निवृत्ति के कारण हैं । अतः वेद वेदवेत्ता की रक्षा करने में समर्थ हैं ही ।

कैसे –

तस्यैव नामादिविशेषरूपै– रिदं जगद्भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ।। २.०७ ।।

हे महानुभाव! उस परमात्मा के मायाकल्पित नामादि विशेष रूपों से यह जगत् भास रहा है । वह ब्रह्म ही अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्य, जात्यन्तर से रहित), अबाह्य (जिसके बाहर कुछ नहीं) है । वही सर्वानुभू (सबको सब प्रकार जानने वाला है)– यही सारे वेदान्त का उपसंहारभूत अनुशासन है[१७]। इस प्रकार उसका निर्देश करके वेद उसे विश्व से विपरीत रूप वाला बतलाते हैं ।

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान् न चान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्वम् उत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम् ।। २.०९ ।।

ज्ञान से वह विद्वान् आत्मा यानी परमात्मा को प्राप्त होता है । परन्तु वर्गफलानुकाङ्क्षी – अर्थात् इन्द्रियविषयक फलों का इच्छुक – यज्ञादि सम्पूर्ण कर्मों को ग्रहण कर, परलोक में उनका फल भोगता है और भोग की समाप्ति पर फिर से संसार मार्ग को प्राप्त करता है ।

१४ अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जना: ।। बृहदारण्यक– ४.४.११

१५ आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुष: । किमिच्छन्कस्यकामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।। बृहदारण्यक–४.४.१२

१६ .... तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन.....बृहदारण्यक–४.४.२२

१७ इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते....तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् **अयमात्मा ब्रह्म** सर्वानुभूरित्यनुशासनम्– बृहदा. २.५.१९

प्रश्न ८ व ९ – तप–विषयक प्रश्न

धृतराष्ट्र पूछते हैं कि तप निष्कल्मष (केवल) कब होता है? तप के क्या–क्या दोष हैं?

उत्तर में भगवान् सनत्सुजात तप के बारह दोषों, सात नृशंसों (निन्द्य कर्मों) तथा बारह गुणों का वर्णन विस्तार से करते हैं । इसी प्रसंग में दम के अठारह दोष, मद के अठारह दोष, बारह महाव्रत, षड्विध त्याग, अप्रमादी के आठ गुण आदि कहे गये। इस विस्तार के लिये मूल ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये ।

इस प्रसंग के सारांश में यही कहा गया कि इन गिनाये गये दोषों से बचते हुए, फलाकांक्षा से रहित होकर, गुणों का अनुकरण करना ही शुद्ध तप और महाव्रत है । यहीं धृतराष्ट्र को सत्यव्रत धारण करने का आदेश इस प्रकार दिया जाता है –

सत्य की स्तुति

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ।। २.३० ।।
निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धात्रा कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ।। २.३१ ।।

हे राजेन्द्र ! तुम सत्यात्मा, सत्यस्वरूप होओ। सत्य में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं । उन्हें सत्यमुख, सत्यप्रधान, कहा गया है । सत्य में ही अमृत स्थित है, अमृत का ही अर्थ मोक्ष है । इस प्रकार दोषों से निवृत्त होकर ही तप–व्रत का आचरण करो । विधाता का बनाया यही सदाचार है । **सत्य ही सत्पुरुषों का व्रत है।**

प्रश्न १० – धृतराष्ट्र पूछते हैं कि कितने वेदों के ज्ञाता को श्रेष्ठ ब्राह्मण मानना चाहिये?

उत्तर में भगवान् सनत्सुजात कहते हैं कि –

ब्रह्मज्ञ ही वेदज्ञ है

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ।। २.४२ ।।

ऋगादि वेदों में से कोई भी वेद (संवित्स्वरूप परमात्मा) को जाननेवाला नहीं है। जड़ वेद के द्वारा वेद (ज्ञानस्वरूप परमात्मा) नहीं जाना जा सकता । न ही वेद वेद्य को जान सकता है, क्योंकि, समस्त पदार्थों की सिद्धि तो ज्ञान के ही आधीन है । जो वेद को जानता है वही वेद्य को भी जानता है, परन्तु जो वेद को वेद्य रूप से जानता है वह सत्य (सत्यस्वरूप परमात्मा) को नहीं जानता ।

जो ऋगादि वेदों को जानता है वह तो वेद्य को ही जानता है – अर्थात् अनात्मज्ञ ही है। वह परमात्मा तो वाणी का विषय ही नहीं है, इसलिये उसे न वेदवेत्ता जान सकते हैं न वेद ।

यदि ऐसा है तो उपनिषद् द्वारा उसे कैसे जाना जा सकता है, इसलिये कहते हैं कि फिर भी जो वेदवेत्ता वेदों के द्वारा ही उसे जान लेते हैं, वे ही ब्राह्मण उस परमात्मत्त्व को जान लेने वाले होते हैं ।

वेद तटस्थवृत्ति से परमात्मा का बोध कराता है

जो किसी का विषय नहीं है उसे कैसे जाना जाय, इस पर कहते हैं –

यामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा हि शाखा च महीरुहस्य ।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि नित्ये परमात्मनोऽर्थे ।। २.४४ ।।

त्रियाम चन्द्रमा को कहते हैं । जैसे प्रतिपदा के चन्द्रांश के दर्शन के लिये वृक्ष की शाखा सहायक होती है, उसी प्रकार परमात्मा, जो नित्य–अविनाशी, परमपुरुषार्थ है, उसके स्वरूपभूत ज्ञान में वेद कारण है । वेद उस वाणी के अविषय परमात्मा का साक्षात् प्रतिपादन नहीं करते – ऐसा शास्त्र कहते हैं ।

वेदार्थ का ज्ञाता ही सच्चा ब्राह्मण है

अभिजानामि ब्राह्मणम् आख्यातारं विचक्षणम्।
एवं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत् ।। २.४५ ।।

मैं कुशल ब्राह्मण उस व्याख्याता को समझता हूँ जो वेदों का प्रतिपादन उक्त प्रकार से ज्ञानस्वरूप आत्मा की तरह कर सकता है । इस प्रकार से वह परब्रह्म को भी जानता है ।

आत्मकामी को विषयों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कदाचन।
अविचिन्वन्निमं वेदे ततः पश्यति तं प्रभुम् ।। २.४६ ।।

विषय, इन्द्रियाँ, देह और अहंकार – योगी के बाह्य एवं आंतरिक शत्रु माने गये हैं। इसलिये साधक को आत्मतत्त्व के प्रत्यर्थी (शत्रु) देहेन्द्रियादि का पर्येषण (परीक्षण) नहीं करना चाहिये । इस प्रकार विषय–संचय नहीं करने से, वेदोक्त (तत्त्वमसि आदि) वाक्यों का अनुभव करके वह उस प्रत्यगात्मा प्रभु का अनुभव कर लेता है ।

देहेन्द्रियादि के धर्मों का आत्मस्वरूप से अर्थात् ये मेरे धर्म हैं, ऐसा अनुभव न करने से उनके साक्षी को ही आत्मस्वरूप से जानते हुए, आत्म साक्षात्कार कर लेता है ।

ब्रह्मप्राप्ति का क्रम

तूष्णींभूत उपासीत　　न चेच्छेन्मनसा अपि।
अभ्यावर्त्तेत ब्रह्मास्मै　　बह्वनन्तरमाप्नुयात् ।। २.४७ ।।

तूष्णींभूतः–अर्थात् सब कर्मों का त्याग कर अपने आत्मलोक की ही उपासना करे। मन से भी इच्छा का त्याग करे । इस प्रकार ब्रह्म के प्रति अभ्यावर्तित–ब्रह्माभिमुख, होकर बहु–अर्थात् भूमा, अज्ञानातीत परमात्मा, को प्राप्त कर लेता है ।

ब्रह्मज्ञ ही मुनि है

मौनाद्धि मुनिर्भवति　　नारण्यवसनान्मुनि।
अक्षरं तं तु यो वेद　　स मुनिश्रेष्ठ उच्यते ।। २.४८ ।।

मौन–अर्थात् पूर्वोक्त तूष्णीभाव द्वारा ही मुनि होता है, केवल वन में रहने से नहीं। उन तूष्णीभूतों में भी मुनिश्रेष्ठ उसे जानो जो उस अक्षर यानी परमात्मा को, यह मैं हूँ, इस प्रकार जानता है ।

ब्रह्मज्ञ ही वैयाकरण है

सर्वार्थानां व्याकरणाद्　　वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं　　व्याकरोतीति तत्तथा।। २.४९ ।।

सब प्रकार के अर्थों का व्याकरण करने से ही कोई व्यक्ति वैयाकरण कहलाता है–शब्दरूप एकदेश का व्याकरण करने मात्र से नहीं। मूलतः व्याकरण अक्षर रूप से समस्त नामरूप प्रपञ्च का विभाग होता है[१८]। वह विद्वान् भी उस ब्रह्म का इसी प्रकार विवेचन करता है, इसलिये वह वैयाकरण है ।

१८ अनेन जीवेनात्मनानुप्रविष्य नामरूपे व्याकरवाणि–छान्दोग्य ६.३.२

ब्रह्मज्ञ ही सर्वज्ञ है

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्रह्मणि तिष्ठंस् तद्विद्वान् सर्वविद्भवेत्।। २.५०।।

जो भूः आदि लोकों को प्रत्यक्ष रूप से देखता है वह सर्वदर्शी होता है । वह सत्यादि लक्षणों से युक्त ब्रह्म का आत्मभाव से ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, सर्ववित् हो जाता है ।

प्रश्न ११ – ब्रह्मनिरूपण के लिये धृतराष्ट्र की प्रार्थना

उत्तर – हे राजन् ! जिस ब्रह्मविद्या के विषय में तुम आग्रहपूर्वक पूछते हो, वह उतावली में नहीं मिल सकती है । वह तो तब ही मिलती है जब संकल्प–विकल्पात्मक मन, विषयों से निवृत्त होकर, निश्चयात्मिका बुद्धि में लीन हो जाये ।

आद्यां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः।
यां प्राप्यैनं मर्त्यभावं त्यजन्ति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या।।३.०३।।

जिसे आद्या विद्या कहते हैं वह सत्यस्वरूपा, परमार्थ विद्या, सत्पुरुषों को ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है । यह विद्या सदा गुरुवृद्धों से प्राप्त होती है जिसे प्राप्त करके शिष्य मर्त्यभाव को त्याग देते हैं ।

प्रश्न १२– ब्रह्मचर्य क्या है – यह प्रश्न पूर्व प्रश्न से ही उत्पन्न होता है ।

उत्तर में भगवान् सनत्सुजात आचार्य–शिष्य सम्बन्धों की विस्तृत एवं बहुत सुन्दर व्याख्या करते हैं। इसका विस्तार मूल ग्रन्थ में दर्शनीय है। सारांश यह है कि जिस प्रकार यह शरीर माता–पिता से जन्म पाता है, उसी प्रकार ब्रह्मात्मभाव आचार्य के संसर्ग से प्राप्त होता है । गुरुयोग से प्राप्त इस ब्रह्मविद्या के चार चरण हैं – गुरु से श्रवण, अपनी बुद्धि से (मनन का पूर्वार्ध) तथा सहाध्यायियों के साथ विवेचन से (मनन का उत्तरार्ध) और कालक्रम से बुद्धि का परिपाक (निदिध्यासन) ।

इस उत्तर से ही धृतराष्ट्र का अंतिम प्रश्न उत्पन्न होता है।

धृतराष्ट्र का ब्रह्मस्वरूप विषयक प्रश्न

प्रश्न १३ धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिव– अथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा।
यद् ब्राह्मणः पश्यति यत्र विद्वान् कथंरूपं तदमृतमक्षरं परम्।। ३.१९।।

ज्ञान द्वारा विद्वान् ब्राह्मण जिस अमृत, अक्षर, अविनाशी परम् ब्रह्म का साक्षात्कार करता है वह ब्रह्म शुक्ल (उज्ज्वल), लोहित (लाल), अर्जुन (श्वेत) या धूम्रवर्ण कैसे रंग-रूप वाला है ?

ब्रह्मस्वरूप की विलक्षणता

सनत्सुजात उवाच

नाभाति शुक्लमिव लोहितमिव- अथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ।। ३.२० ।।

वह ब्रह्म न शुक्ल, न लोहित, न अर्जुन, न धूम्रवर्ण, कैसे भी रंग-रूप वाला नहीं है । हो भी नहीं सकता । श्रुतियाँ कहती हैं कि वह शब्द, रूप, स्पर्शादि रहित है[१९]। न वह पृथ्वी में, न अन्तरिक्ष में निवास करता है । न ही वह समुद्र में जलरूप धारण करता है । न वह तारागण में, न विद्युत में आश्रित है, न उसका रूप बादलों में दिखाई देता है, न वायु में, न देवताओं में, न सूर्य-चन्द्र में । न वह ऋक्, यजुः, अथर्व या विमल साम श्रुतियों में, या रथन्तर या बृहत् साम में ही उपलब्ध होता है । वह तो महाव्रतधारी ब्राह्मण को ही अपने अन्तःकरण में उपलब्ध होता है ।

ब्रह्मसाक्षात्कार का स्वरूप और फल

महाव्रतशील ब्राह्मण को जिसका साक्षात्कार होता है वह अवारणीय (अविच्छिन्न), सर्वगत तथा सारे तम (अज्ञान) से परे, अशब्द, अरूप है। प्रलयकाल में जगत् का नाश होने पर भी वह रहता है। वह अणु का भी अणु और पर्वतों से भी महान् स्वरूपवाला है । वह दिवा रूप में सबको प्रकाशित करता है।[२०] उसे आत्मवेत्ता ज्ञानयोग से ही जान सकते हैं । उसमें ही यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है। जो उसे जानते हैं, अमर हो जाते हैं ।

तो फिर वह योगियों द्वारा कैसा देखा जाता है -यह धृतराष्ट्र के प्रश्न का ही शेष भाग है । इसका उत्तर अब दिया जाता है ।

ब्रह्म का योगिदृश्य रूप

यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिः दीप्यमानं महद्यशः।
यद्वै देवा उपासते यस्मादर्को विराजते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ४.०१ ।।

१९ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्-कठ. १.३.१५

२० तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति-कठ. २.२.१५

वह शुक्र (शुद्ध) अर्थात् अविद्यादि दोषों से रहित महान् ज्योति है । प्रकाशमान महद्यश है । इन्द्रादि देवता भी उसकी उपासना करते हैं जिसके तेज से सूर्य प्रकाशित होता है, उस सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं ।

ब्रह्म का सर्वकारणत्व स्वयंप्रकाशत्व

परब्रह्म से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति –

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्ये अतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ४.०२ ।।

शुद्ध ब्रह्म (शुक्र) से हिरण्यगर्भ कहलाने वाले ब्रह्म की उत्पत्ति होती है । फिर वह उत्पन्न हुआ ब्रह्म ही शुद्ध ब्रह्म द्वारा विराट् रूप से वृद्धि प्राप्त करता है । वह शुक्र ब्रह्म आदित्यादि ज्योतिर्गणों के बीच रह कर भी उनका प्रकाशक ही रहता है, उनसे प्रकाशित नहीं होता । ऐसे उस सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं ।

शुद्ध ब्रह्म, कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म की एकता

''पूर्णमदः ...''[२१] मन्त्रार्थ –

पूर्णात् पूर्णमुद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णं प्रचक्षते।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णं च पूर्णमेवावशिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४.०३ ।।

देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न पूर्ण परमात्मा से ही जीवरूप पूर्ण उद्धृत होता है, इसलिये वह भी पूर्ण ही कहा जाता है । जब देहेन्द्रियादि से निकालकर उनके साक्षी सर्वान्तर्यामी आत्मा को देहद्वय (सूक्ष्म,स्थूल) से अलग करते हैं तब भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है । ऐसे ही उस पूर्णस्वरूप सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं ।

ब्रह्म का सर्वाश्रयत्व

यथाऽऽकाशेऽवकाशोऽस्ति गंगायां वीचयो यथा।
तद्वच्चराचरं सर्वं ब्रह्मण्युत्पद्य लीयते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ४.०४ ।।

२१ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।–ईशावास्य–शांतिपाठ ।।

जैसे आकाश में अवकाश और गंगा में लहरें होती हैं, वैसे ही सब चराचर जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है। उस सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं।

जीव और ब्रह्म की सहस्थिति

''द्वा सुपर्णा [२२] ...'' मन्त्रार्थ –

आपोऽथादभ्यः सलिलं तस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
आदध्रीचीः सविषूचीर्वसाना– वुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४.०५।।

पहले परमात्मा से '**आपः**' की सृष्टि हुई। '**आपः**' शब्द यहाँ पञ्चभूत के उपलक्षण के लिये प्रयुक्त है। अर्थ यह है कि पहले सूक्ष्म सृष्टि हुई। इसके बाद **सलिल** या पञ्चभूतात्मक स्थूल देहादि की रचना हुई।

देह रूप से स्थित उस सलिल के मध्य में अन्तरिक्ष (हृदयाकाश) में जीव और परमात्मा दोनों देव वर्तमान हैं। वे ही सब उपदिशाओं (विषूची) सहित दिशाओं (आदध्रीची) को आच्छादित करते हुए, पृथिवी और द्युलोक का पोषण करते हैं। उनमें से एक, जीव, तो अपने सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मात्मभाव को न जानने के कारण अनात्मभाव को प्राप्त करके पृथिवी का (देहादि का) पोषण करता है तथा दूसरा द्युलोक (स्वात्मस्वरूप) का पोषण करता है। इस प्रकार जो अपनी माया से अपने को अनन्त भेदों वाला करके, अन्तःकरण के भीतर प्रविष्ट हो, साक्षीरूप से देखता हुआ स्थित है, ऐसे उस सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं।

ब्रह्म की दुर्दर्शता और ब्रह्मदर्शन से अमरत्व की प्राप्ति

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४.०७।।

इस परमात्मा का कोई दूसरा रूप नहीं है [२३], अतः यह उपमा का विषय नहीं है। इसे कोई भी नेत्रों

२२ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।–मुण्डक ३.१.१।।

२३ नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।।–श्वेताश्वतर–४.१.१६।।

से नहीं देख सकता। तो फिर इसे कैसे देखा या जाना जा सकता है–मनीषा या निश्चयात्मिका बुद्धि से, मन से और हृदय से। जो इसे जान लेते हैं, अमृत – अमरणधर्मा–हो जाते हैं । ऐसे सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं।

यहाँ भगवान् आदि शंकराचार्य श्वेताश्वतर उपनिषद् के उद्धरण द्वारा यह भी कहते हैं कि गुरु–कृपा से भी यह ज्ञान संभव है (यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ।। श्वेताश्वतर – ६.१.२३)।

तदर्धमासं पिबति संचितं भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४.०९।।

जिस प्रकार भ्रमर आधे मास तक उपार्जित मधु को आधे मास तक पीता रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी अपने पूर्व–संचित कर्म को दूसरे जन्म में भोगता है । जिस ईश्वर ने सभी भूतों के लिये कर्म (हवि) के अनुसार अन्नादि (मधु) की व्यवस्था कर रखी है, ऐसे उस सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं ।

हिरण्यपर्णमश्वत्थम् अभिपत्य ह्यपक्षकाः।
तत्र ते पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथासुखम्।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४.१०।।

जिस हितकारी एवं रमणीय अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते ही हिरण्यमय (वेद)[२४] हैं, अपक्षक[२५] –ज्ञानरूप पंखों से रहित–उस हिरण्यपर्ण अश्वत्थ पर आरूढ़ हो पक्षी–ज्ञानवान्–हो जाते हैं और सुखपूर्वक उड़ते हैं। जिनका ज्ञान मिलने मात्र से ऐसा हो जाता है, उन सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं ।

योगनिरूपण

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः।
आदित्यो गिरते चन्द्रम् आदित्यं गिरते परः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।४.११।।

---

२४ छन्दांसि यस्य पर्णानि–गीता १५ .१ ।।

२५ ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये अविद्वांसस्ते अपक्षाः । –ताण्ड्य ब्राह्मण १४.१.१३ ।।

अपान को प्राण निगल जाता है– ग्रहण कर लेता है । प्राण को मन, मन को बुद्धि और बुद्धि को पर (परब्रह्म) ग्रहण कर लेता है । इस प्रकार समाधिकाल में योगी प्राण, मन, बुद्धि को अपने उसी स्वाभाविक सनातन चित्सदानन्दाद्वितीय ब्रह्मात्मा भाव में लीन होता हुआ देखते हैं ।

ब्रह्म की जीवरूप से स्थिति

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
तं चेत्सततमुत्क्षिपेन्न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ४.१२ ।।

अविद्या और उसके कार्य का हनन करता है, इसलिये परमात्मा हंस है । देखा जाता है कि जब हंस जल के ऊपर चलता है तो अपने एक पाँव को ऊपर नहीं उठाता है । वह पाँव जो ऊपर नहीं उठाता उसकी संज्ञा जीव कही जाती है, क्योंकि वह संसार में डूबा हुआ उसके अनुरूप आचरण करता है । इसके विपरीत, यदि वह एक भी पाँव पानी में कभी डाले ही नहीं तो संसार ही अर्थहीन हो जाय। फिर तो न जन्म होगा न मृत्यु होगी । अमृतत्व या मोक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि मोक्ष के लिये परमात्मा का संसार में अनुप्रविष्ट होना आवश्यक है । अतः जो इस प्रकार एक पाद से जीवभाव से और द्विपाद् रूप से, सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मभाव से, परमात्मा सनातन स्थित है, उसका योगी ही दर्शन करते हैं ।

आत्मज्ञान का महत्व

असाधना वापि ससाधना वा समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु।
समानमेतदमृतस्येतरस्य युक्तास्तत्र मध्व उत्सं समायुः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनत ।। ४.१६ ।।

जो साधन अर्थात् शम–दमादि साधनों से रहित हैं, या जो इनसे सम्पन्न हैं, उन दोनों का स्वरूप एक–सा ही देखा जाता है । वैसे ही अमृत, मोक्ष युक्त या अन्य हैं वे भी एक से ही हैं । परन्तु जो साधन–सम्पन्न हैं वे भगवान् विष्णु के परम पद में मधु का झरना प्राप्त करते हैं । ऐसे पूर्णानन्द सनातन परमात्मा को योगी ही देखते हैं ।

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति तदाहुतं चाहुतमग्निहोत्रम्।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १७ ।।

वह पूर्णानन्द ब्रह्म दोनों लोकों को विद्या (ज्ञान) से व्याप्त कर देता है। इस आत्मज्ञान द्वारा अग्निहोत्र में आहुति देने या न देने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । अतः तेरी यह ब्रह्मविषयिणी विद्या तुझमें लघुता–मर्त्यभाव– उत्पन्न न करे। इस विद्या का नाम प्रज्ञान है – और प्रज्ञान ब्रह्म है– यह श्रुति कहती है। उस प्रज्ञान–सम्पन्न ब्रह्म को धीर, बुद्धिमान् प्राप्त करते हैं और उसी सनातन परमात्मा को योगी ही देखते हैं।

एवंरूपो महानात्मा पावकं पुरुषो गिरन्।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहात्मा न रिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४.१८ ।।

वह महानात्मा पुरुष इस प्रकार के प्रज्ञानमय रूप को प्राप्त कर पावक – अग्नि – का भी उपसंहार कर जाता है । जो उस प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् जानता है, उसका आत्मा यहाँ नष्ट नहीं होता। ऐसे उस सनातन परमात्मा को योगी ही देखते हैं ।

तस्मात्सदा सत्कृतः स्यान्न मृत्युरमृतं कुतः।
सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनी सतश्च योनिरसतश्चैक एव।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४.१९ ।।

जो अपने को सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूप से मानता है वह सत्कृत होता है । अतः सदा सत्कृत रहना चाहिये। सत्कृत को मृत्यु अर्थात् जन्म–मरण रूप संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती । तो फिर अमृतत्व की भी कैसे होगी? क्योंकि अमृतत्व तो मृत्यु की अपेक्षा से है । सत्य–असत्य तो एक ही परमार्थ सत्यरूप के अधीन हैं । जैसे यदि (लौकिक अर्थ में ऐसा मानें कि) रजत सत् है और कुण्डलादि असत् हैं, तो ज्ञात होगा कि सत्य और अनृत दोनों अपने कारणभूत सत्य के साथ समान रूप से बँधे हुए हैं, इसीलिये उन्हें सत्यसमानुबन्धी कहा गया है । जिसके ज्ञान के कारण मृत्यु का नाश हो जाता है तथा सत्य–असत्य दोनों जिसके आश्रित हैं, उस सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन करते हैं।

आत्मा का सर्वकारणत्व

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ।।४.२० ।।

आकाश से संसार तक सब की रचना करने वाला पुरुष हृदय में प्रविष्ट हुआ अपने सच्चिदानन्दाद्वितीय रूप में दिखाई नहीं देता। वह अजन्मा सम्पूर्ण चराचर रूप में अहर्निश सावधान रहता है । कवि – सूक्ष्मदर्शी विद्वान– उसे इस प्रकार जान कर प्रसन्न, कृतार्थ हो जाते हैं ।

तस्माच्च वायुरायातः तस्मिंश्च प्रलयस्तथा।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्माच्च प्राण आगतः ।।४.२१।।
तत्प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद्यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र च ।।४.२२।।

उसी से वायु (सारे भूत, तमोगुण) उत्पन्न होता है, उसी से अग्नि और सोम (भोक्तृ-भोग्य वर्ग, रजोगुण), उसी से प्राण (इन्द्रियादि, सत्त्वगुण) होते हैं और उसी में प्रलय प्राप्त करते हैं । उसी में इस (सब) की प्रतिष्ठा है, सब लोक वहीं हैं, वही ब्रह्म है, वही यश है ।

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशश्च शुक्लं भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति तस्मात् समुद्रा विहिता महान्तः ।।४.२३।।

वही शुक्ल ब्रह्म पृथिवी के (जीव) और द्युलोक के (ईश्वर), दोनों देवों को, दिशाओं को, लोकों को धारण करता है। उसी से सब ओर सरिताएँ प्रवाहित होती हैं । महान् समुद्रों को उसी ने धारण कर रखा है ।

ब्रह्म की अनन्तता

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षानाहृत्य सम्पतेत्।
नान्तं गच्छेत् कारणस्य यद्यपि स्यान्मनोजवः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।४.२४।।

कोई सहस्रों-सहस्र पंख लगा ले और भले ही मन की गति से उड़े तो भी उसके कारण या अन्त तक नहीं पहुँचेगा। ऐसे अनन्त सनातन परमात्मा को योगीजन देखते हैं ।

अदर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः।
हीनो मनीषी मनसाभिपश्येद् य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।४.२५।।

इस परमात्मा का रूप दृष्टि के अधिकार में नहीं है । जो सुसमिद्धसत्त्वा हैं अर्थात् जिनका अन्तःकरण (सत्त्व) सम्यक् संस्कारों से समिद्ध (दीप्त) है, वे इसे देख सकते हैं । वे मनीषी, जो राग-द्वेषादि से हीन हैं, वे इसे मन से ही देखते हैं। जो इसे अहमस्मि (यह मैं हूँ), इस प्रकार जान जाते हैं, वे अमृत, अमरणधर्मा हो जाते हैं ।

आत्मज्ञ की निःशोकता

इमं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषुस किं शोचेत्ततः परम् ।।४.२६।।

जो सब प्राणियों को अपनी आत्मा में ही देखता है, तो फिर वह अन्यत्र-अन्यत्र, अर्थात् देहादि में उन्हें देखकर क्यों शोक करेगा[२६]।

स्वानुभव-प्रदर्शन

अहमेवास्मि वो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः।
आत्माहमस्य सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ।।४.२८।।
पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न चाप्यहम् ।।४.२९।।

हे भारत ! (आधिभौतिक रूप से) मैं ही तुम्हारी माता, मैं ही पिता और मैं ही तुम्हारा पुत्र हूँ। जो कुछ है, और जो नहीं है, सबकी मैं ही आत्मा हूँ। (आधिदैविक रूप से) मैं ही वृद्ध पितामह, अर्थात् जो इन्द्रादि का भी पितामह है, जो अनादिसिद्ध परमात्मा है, वह मैं ही हूँ। इन्द्रादि का पिता हिरण्यगर्भ भी मैं ही हूँ। तुम सब मेरे ही स्वरूप में स्थित हो[२७]। परन्तु परमार्थतः न तुम मुझमें न मैं तुममें स्थित हूँ।

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ।।४.३०।।

आत्मा ही मेरा स्थान है। आत्मा ही जन्म है, क्योंकि आत्मा से ही सब कुछ हुआ है[२८]। मैं ही ओत-प्रोत जगदात्मा हूँ। तुम सब का आदि अजर, जरा-मरण-शून्य रूप से अपनी महिमा में स्थित हूँ[२९]। मैं अहर्निश सावधान अजन्मा सतत् क्रियाशील रहता हूँ। विद्वान् मुझे जानकर आनन्दित हो जाता है।

---

२६ यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। ईशावास्य-७।।
२७ मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं चेष्ववस्थितः-गीता ९.४
२८ .... आत्मत एवेदं सर्वम् - छान्दोग्य-७.२६.१
२९ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि-छान्दोग्य-७.२.४१

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेष्ववस्थितः।
पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः ।।४.३१।।

विद्वान् मुझे अणु का भी अणु, सुमना (राग-द्वेष, मद, मात्सर्य, शोक, मोह विहीन मन वाला), सब प्राणियों का पिता, सब प्राणियों के हृदय-कमल में अन्तर्यामी रूप से स्थित जानते हैं ।

भगवान् सनत्सुजात का प्रवचन यहाँ सम्पन्न होता है। भगवान् आदि शंकराचार्य अपने भाष्य का उपसंहार अपनी ओर से तीन श्लोकों से करते हैं-

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमीशमात्मना।
भावयन् षडिन्द्रियाणि संनियम्य निश्चलः ।।
अस्ति वस्तु चिद्घनं जगत्प्रसूतिकारणम्।
न नश्वरं तदुद्भवं जगत्तमोनुदं च यत् ।।
तत्पदैकवाचकं सदामृतं निरञ्जनम्।
चित्तवृत्तिदृक् सुखं तदस्म्यहं तदस्म्यहम् ।।

छहों इन्द्रियों को निश्चल निग्रह करके, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ईश्वर का अपने में भाव करते हुए, चिन्तन करें कि जगत् की उत्पत्ति का कारण कोई चैतन्य-घन वस्तु है, किन्तु उससे उत्पन्न यह नश्वर जगत् अज्ञान ही देने वाला है। उसका एकमात्र वाचक तो 'तत्'पद ही है जो सत्, अमृत, निरञ्जन, चित्तवृत्तियों का द्रष्टा, सुखस्वरूप है -

वही मैं हूँ। वही मैं हूँ।